Emerging Trends in Education [Vol. 3 - No. 2. pp 43-47]

प्राच्य संस्कृति में जन–शिक्षा की अवधारणा

लतापन्त तैलंग*

जनशिक्षा किसी भी राष्ट्र की स्थिरता और समृद्धि का आधार होती है, अतः राज्य इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। प्राचीन काल से जन शिक्षा देशकाल की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप सामाजिक–संरचना का अभिन्न अंग रही है। आधुनिक प्रजातांत्रिक युग में राज्य का अस्तित्व सार्वजनिक शिक्षा पर निर्भर करता है, अतः भारतीय सरकारें जनशिक्षा को प्राथमिक महत्व देती है, इस हेतु वृहत् योजनायें व नीतियां बनायी जाती हैं, और उन पर प्रभूत–धनराशि खर्च की जाती है। परिणामस्वरूप शिक्षित भारतीयों की संख्या बढ़ी है, फिर भी हम सम्यक् शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। कर–प्रवंचना, पद का दुरुपयोग, सार्वजनिक सम्पत्ति की हानि और अन्यान्य भ्रष्टाचार शिक्षित भारतीय की पहचान बन चुके हैं। समाज का कोई भी वर्ग इससे अछूता नहीं है। ये 'साक्षराः राक्षसाः भवन्ति' की उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में हम प्राचीन साहित्य की गवेषणा करें तो ज्ञात होता है कि जब सार्वजनिक शिक्षण–संस्थाओं का विकास नहीं हुआ था तब भी जनसामान्य सुसंस्कृत जीवन जीते थे, वे कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रखते थे और परिवार, समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन पूरी निष्ठा से करते थे। महाभारत महाकाव्य में भीम द्वारा बकासुर वध के प्रसंग में आतिथेय ब्राह्मण परिवार की उक्तियाँ धर्मशास्त्रोक्त कर्तव्यों के पालन में जनसाधारण की समझ को प्रकट करती हैं। इसी प्रकार आश्रम में पली–बढ़ी शकुन्तला दुष्यन्त की राज्य सभा में अपने अधिकारों के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करती है। ऐसे अनेकों प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि प्राच्य सभ्यता संस्कृति में सामाजिक–संरचना के अन्तर्गत ऐसी अद्वितीय संस्थायें–परम्परायें विकसित की गयी थीं, जिनके द्वारा सदियों तक जन शिक्षा का कार्य होता रहा। आर.के. मुखर्जी लिखते हैं "भारतीय जीवन–शैली का आधार मनीषियों का दार्शनिक चिन्तन रहा है इसलिये हमारी संस्कृति का विश्व संस्कृतियों में विशिष्ट स्थान रहा है"।

सर्वप्रथम जनसाधारण में धर्म के प्रति आस्था थी। सामाजिकों की आकांक्षा होती थी कि उनका पुत्र, धर्मनिष्ठ नागरिक बने। व्यासमुनि पुत्र शुकदेव को कहते हैं कि यदि तुम्हें संसार रूपी अंधकार में प्रवेश करना है तो धर्मबुद्धिमय महान् दीपक को धारण कर लो जिसकी शिक्षा क्रमशः प्रज्ज्वलित हो रही हो। इसलिये शिक्षा का स्वरूप धार्मिक था। वेद, उपनिषद् धर्मशास्त्र शिक्षा के प्रधान विषय थे किन्तु उच्च शिक्षा दुर्लभ थी। उसे प्राप्त करने के लिये कठोर ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर गुरूकुल में रहना पड़ता था। अतः समाज में उच्च शिक्षा प्राप्त स्नातकों की संख्या अत्यल्प थी और यही कारण था कि धर्म भीरू जनता में उच्च शिक्षा प्राप्त वेदज्ञ ब्राह्मण के प्रति अत्यन्त आदरभाव होता था, क्योंकि उनका विश्वास था कि वैदिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण में उनका सही मार्गदर्शक हो सकता है। अतः जनसाधारण

* एसोशिएट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्रद्धापूर्वक उनके उपदेशों को सुनते थे और व्यवहार में लाने का प्रयत्न करते थे।

जहां तक धर्म का प्रश्न है भारतीय संस्कृति में धर्म की अवधारणा अत्यन्त उदार और व्यापक है। धर्म उपासना–पद्धति तक सीमित नहीं है। महाभारत में भीष्म कहते हैं– प्राणि मात्र के कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है। अतः कल्याण–भावना से युक्त मनुष्य के समस्त कर्त्तव्य ही धर्म है। मनुस्मृति में धर्म के लक्षण के रूप में मनुष्य के चारित्रिक गुणों का परिगणन किया गया है। सर्वत्र सदाचार को धार्मिक कर्मकाण्ड से ऊपर बतलाया गया है। मान्यता थी कि श्रेष्ठ आचरण से मनुष्य आयु विद्या, समृद्धि, यश और प्रत्येक इच्छित वस्तु को प्राप्त कर सकता है। यहां तक कहा गया कि कदाचरण से ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठ जाति से पतित हो जाता है।

प्राचीन भारत में लोककल्याणकारी राजतंत्र प्रचलित था। जनसाधारण की आस्था थी कि ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में राजा हम लोगों के मध्य है और हमारे योग–क्षेम का वाहक है। राजा का कर्तव्य था कि वह समाज के प्रत्येक वर्ग के धर्माचरण के लिये उपयुक्त परिस्थितियों का सृजन करे, और बाधाओं को दूर करें, राजा अपने कर्तव्यों को पूरा करके गौरवान्वित अनुभव करते थे। अश्वपति कैकय कहते हैं, मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कंजूस नहीं है, मद्यप नहीं है, अशिक्षित नहीं है, सब पवित्र अग्नि की रक्षा करते हैं, स्त्रियां तो क्या पुरुष भी व्यभिचारी नहीं है। रघुवंश के एक प्रसंग में कालिदास लिखते हैं– राजा दिलीप की जेलों में पुत्र जन्मोत्सव की प्रसन्नता में मुक्त करने के लिये कोई कैदी न था अर्थात् अपराध नहीं होते थे। प्रजा का नैतिक स्वर अत्यन्त ऊँचा था। रघुवंश की उक्ति है कि जैसे सर्प की डँसी हुई ऊँगली को तुरन्त काटकर फेंक देना चाहिये ताकि विष शरीर में न फैले वैसे ही बिना किसी भेदभाव के अपराधी को दण्डित करना चाहिये ताकि समाज दूषित न हो। मान्यता थी कि समाज में एक अपराधी के रहने पर सारे राज्य पर विपत्ति आती है। एक बार राजा राम की सभा में एक ब्राह्मण अपने मृत पुत्र को लेकर पहुंचा और बोला मैंने कभी कोई कदाचरण नहीं किया है, राज्य में किसी अन्य के दुष्कृत्य से मेरे पुत्र की अपमृत्यु हुई। शिक्षा पर राजकीय नियंत्रण नहीं था। राजा और प्रजा दोनों में ही शिक्षा व शिक्षितों के प्रति आदर की भावना थी। दोनों ही यथा शक्ति गुरुकुल की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करना अपना धर्म समझते थे। ब्रह्मचारी को गुरुदक्षिणा देने में आर्थिक सहायता करना पुण्य का कार्य माना जाता था और कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में यदि कोई गतिरोध उत्पन्न होता था तो अध्ययन–अध्यापन व यजन–याजन में संलग्न ऋषियों के निर्णयों को शिरोधार्य करते थे। इस प्रकार की सामाजिक–राजनीतिक पृष्ठभूमि में अनेक स्वस्थ परम्परायें प्रचलित थीं जो जनसाधारण की सामान्य शिक्षा की आवश्यकता को पूरा करती थीं। ए. एस. अल्तेकर लिखते हैं– समाज को शिक्षित करना ब्राह्मणों का धर्म था और वे पूरी निष्ठा से इसका पालन करते थे।

प्राचीन भारत में जन शिक्षा की अवधारणा आधुनिक युग से भिन्न थी। मुद्रित सामग्री का अधिक प्रसार न होने से साक्षरता की शिक्षा महत्वपूर्ण नहीं थी। आजीविका की समस्या नहीं थी।

पर्यावरण शिक्षा और जनसंख्या शिक्षा जैसे– अन्यान्य पाठ्य विषयों का उदय नहीं हुआ था। मनुष्य के इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के लिये चरित्र और आचरण की शिक्षा को सर्वोपरि महत्व प्राप्त था। इतिहास पुराण धर्मशास्त्र इस शिक्षा के साधन थे। इन ग्रन्थों के उपदेशों को जन–जन तक पहुँचाने के लिये सामाजिक ढांचे में अनेक प्रथाओं, परम्पराओं और उत्सवों को इस ढंग से विकसित किया गया था कि वे आरोपित नहीं प्रतीत होते थे, जनसाधारण को मान्य थे, लोकप्रिय थे। सदियों तक इन उत्सवों और परम्पराओं ने सांस्कृतिक शिक्षा के दायित्व का निर्वहन भली–भांति किया। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में जहां पाश्चात्य संस्कृति नहीं पहुंची है इनके प्रभाव को आज भी देखा जा सकता है।

पुराणों के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का विचार है कि वे कपोल–कल्पित हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्व के नहीं हैं किन्तु जनशिक्षा के क्षेत्र में पुराणों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अपितु यह भी कहा जा सकता है कि पुराणों और धर्मशास्त्रों की रचना वेदशास्त्रोक्त उपदेशों का सरलीकरण करने और उन्हें जनसाधारण तक पहुंचाने के लिये ही हुई थी। व्यासमुनि लिखते हैं कि महाभारत, अज्ञान तिमिरान्ध जनता के नेत्रों को खोलने के लिये अंजन–शलाका के समान है। चारण भाट व बन्दी जनशिक्षा की दूसरी संस्थायें थी। ये नरेशों की प्रशस्तियों को काव्यबद्ध करते थे और राजदरबार में गाते थे, तथा भावी नरेशों व सामान्य जनों को राजा के कल्याणकारी कर्तव्यों का स्मरण कराते थे व उन्हें निरकुंश होने से रोकते थे। इसके अतिरिक्त सूतों ने पुराणों और धर्मशास्त्रों की व्याख्या तथा उन्हें जन साधारण तक पहुंचाने का कार्य किया। यज्ञों और धार्मिक सम्मेलनों के अवसरों पर सूत धर्मशास्त्रों का प्रवचन करते थे। धर्मशास्त्रों की समयानुकूल व्याख्या करने और रोचक शैली में सांस्कृतिक प्रथाओं–परम्पराओं के महत्व को जनसाधारण को समझाने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसी परम्परा में 'व्यास' पद भी है। यद्यपि महर्षि व्यास ऐतिहासिक व्यक्ति थे किन्तु कालान्तर में उनके कार्य को आगे बढ़ाने वाले सभी व्यक्ति व्यास कहलाये। आज भी मन्दिरों में एक व्यासपीठ होती है जिस पर बैठकर प्रवचनकार धर्मशास्त्रों में निहित ज्ञान का उपदेश रोचक शैली में जनसामान्य के लिये करते हैं। इन संस्थाओं के अतिरिक्त संयुक्त परिवार सांस्कृतिक शिक्षा की प्रथम पाठशाला थे, जहां बालक परस्पर स्नेह, सहानुभूति, सेवाभाव, सहिष्णुता आदि मानवीय गुणों की शिक्षा सहज ही प्राप्त करते थे। दादी–नानी की कहानियां लोक शिक्षा का साधन थीं।

भारत उत्सवों का देश कहलाता है। आज भी हिन्दू संसार के किसी भी कोने में क्यों न हो अपने सांस्कृतिक उत्सवों को मनाये बिना नहीं रह सकते। दीपावली, दशहरा, जन्माष्टमी, रामनवमी, नृसिंह जयन्ती, हनुमत जयन्ती–यह सूची बहुत लम्बी है। हम आचार्यों जैसे– शंकराचार्य, वल्लभाचार्य से लेकर सूर, तुलसी, कबीर, रैदास तक के जन्मोत्सव मनाते हैं, इस अवसर पर भजन–कीर्तन, प्रवचनों का आयोजन करते हैं और उनके सुकृत्यों को स्मरण करते हैं, उनके जीवन से प्रेरणा लेते हैं। इस सूची में कुम्भ–मेला जैसे धार्मिक महासम्मेलन भी आते हैं। इन अवसरों पर देश के कोने–कोने से धर्माचार्य एकत्रित होते हैं। प्राचीन काल में इन सम्मेलनों

का एक उद्देश्य धर्म की समयानुकूल पुनर्व्याख्या करना भी था। ये सभी उत्सव किसी न किसी पौराणिक महत्व की घटना से जुड़े होते हैं, कभी–कभी एक ही पर्व अनेक पौराणिक घटनाओं से जुड़ा होता है। इन अवसरों पर होने वाले आयोजन सांस्कृतिक परम्पराओं को पुनर्जीवन देते हैं और लोगों में जीवन के प्रति उत्साह उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रों में ब्रह्मचारियों, बालिकाओं, विवाहित स्त्रियों और पुरुषों के लिये अनेक प्रकार के व्रतों, अनुष्ठानों का विधान किया गया है। ब्रह्मचारी व्रत करते हैं– वेदज्ञ के रूप में यश प्राप्त करने के लिये, कन्यायें व्रत करती हैं– पति एवं पुत्रों की दीर्घ आयु और समृद्धि के लिये, गृहस्थ–पुरुष संध्यावन्दन, तर्पण यज्ञादि करते हैं– परिवार के कल्याण के लिये, विधवायें व्रत करती हैं वैकुण्ठलोक प्राप्त करने के लिये। ये सभी व्रत–त्यौहार हिन्दुओं को अपने कर्तव्यों की याद दिलाते हैं और उन्हें असंयमित आचरण करने से रोकते हैं।

सामाजिक–सांस्कृतिक संरचना में पिरोयी गयी उपर्युक्त जनशिक्षा की अद्भुत संस्थाओं और परम्पराओं की जनक राजसत्तायें नहीं थीं, अपितु वे वीतरागी मनीषी थे जिन्होंने निःस्वार्थ जनकल्याण की भावना से इस संरचना को गढ़ा था। संभवतः यही कारण था कि आम जनता ने इसे निःसंकोच स्वीकार किया और इन परम्पराओं का पीढ़ी दर पीढ़ी रक्षण और पोषण किया। डी.जी. आप्टे महोदय लिखते हैं– "The authority behind the process of weaving this cultural web were not kings but leaders of the society, famous for their super natural power and genius as well as for their renunciation….. It seems indeed the work of superhuman brain that could build India into one solid whole by effecting a healthy compromise of different view of points and could withstand the on roads of merciless iconoclasts for millenniums....Most of these institutions of mass education have been working even now but with a limited success because the social background necessary for working is changing with extreme rapidity as a result of contact with foreign culture".

संदर्भ सूची :–

- महाभारत, आदि अ 157
- महाभारत वन अ 74
- हिन्दू सिविलाइजेशन पृ0 63
- क्रमशः संचित शिखो धर्मबुद्धिमयो महान्। अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम्।।
- तद्विज्ञानाय गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। बृह. उपनिषद् 1.5.7
- प्रभवर्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतः। यः स्यात् प्रभव संयुक्तः स धर्मः इति निश्चयः।। महाभारत, शान्ति 109.11
- धृतिक्षमादमोऽस्तेयं
- शीलमध्ययनं दानं शौचं र्मादवमार्जवम्। तस्माद् वेदाद विशिष्टानि मनुराह प्रजापति।।

महा0, आश्व0 9.92

- आचारल्लभतेध्यायुराचाराल्लभतेश्रियम्। आचारात् कीर्ति माप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च।।
- निहीनसेवीविप्रोहि पततिब्रह्मयोनितः। महाभा. अनु. 4, 6–8 महा. भा. अनु. 14.3.24
- न मे स्तेनो जनपदे न कर्दपो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्विद्वान्नस्वैरी स्वैरिणी कुतः।। छान्दोग्य 30.5.113
- न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुजजन्य हर्षितः। रघु.म. 3.20
- त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीद्ङगुलीयोरक्षता। रघु. 1–28
- न स्मराम्यनृतध्युक्तं न च हिंसा स्मराम्यहम्। केनाद्य दुष्कृतेनायं बाल एव ममात्मजः अकृत्वा पितृकार्याणि गतो वैवस्वतक्षयम्।।'' वाल्मीकि श. 7.73
- ये वेदं प्राण्य दुर्धुषा काग्मिनो ब्रह्मचारिणः। याजनाध्यापनेयुक्ता नित्यं तान् पूजयाम्यहम्।। महाभा.अनु.13.15
- तत्सात्यर्थमिच्छन्ति तेभ्योदत्तं महाफलम्। महाभा. अनु. 23.55
- प्राचीन शिक्षा पद्धति पृ. 56–57
- अज्ञान तिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः। ज्ञानांजनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलन कारकम्।। महाभारत आदि. 84
- आवर एजुकेशनल हेरिटेज, पृ0 207–209

संदर्भ ग्रन्थ :–

- अल्तेकर, ए.एस. (1975), एजुकेशन इन एन्शियेंट इण्डिया, मनोहर पब्लिशर, बनारस 7th एडिशन।
- आप्टे, डी.जी. (1961), आवर एजुकेशनल हेरिटेज, शाह पब्लिकेशन्स बड़ौदा।
- के., ए.ई. (1928), एन्शियेंट एण्ड लेटर इण्डियन एजुकेशन, ऑक्सफोर्ड प्रेस, लण्डन।
- दास, एस.के. (1930), एजुकेशन सिस्टम ऑफ एन्शियेंट हिन्दूज, मित्र पब्लिकेशन्स कोलकाता।
- मुखर्जी, आर.के. (1974), एन्शियेंट इण्डियन एजुकेशन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशन, वाराणसी।